PUNE RESEARCH SCHOLAR ISSN 2455-314X
AN INTERNATIONAL MULTIDISCIPLINARY JOURNAL VOL 10, ISSUE 2

आदिवासी साहित्य - मानवाधिकार और वैश्वीकरण

डॉ. नवज्योत भनोत
व्याख्याता (हिन्दी)
डॉ. भीमराव अम्बेडकर राजकीय
महाविद्यालय, श्रीगंगानगर
(राज.) भारत

मानव अधिकारों की आधुनिक अवधारणा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विकसित हुई। प्रथम ठोस प्रयास जो मानवाधिकारों की सुरक्षा के प्रति देखने को मिलता है वह है, 1215 ए.डी. में इंग्लैण्ड का मैग्नाकार्टा विधान, जो कि सम्राट या उसके श्रेष्ठतम अधिकारों के सापेक्ष मानवाधिकारों या मानव के मूल हितों को सुरक्षित करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की 4 जुलाई, 1776 की घोषणा तथा 1789 की फ्रांसीसी घोषणा, मानवाधिकारों की रक्षा एवं इनके महत्त्व को प्रस्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान हुए मानवाधिकार हनन के पश्चात् जून 1915 में 'शान्ति स्थापना लीग' नामक संस्था का गठन किया गया। इसी क्रम में 1920 मे राष्ट्रसंघ का गठन हुआ। इसके बावजूद द्वितीय विश्वयुद्ध में मानवाधिकारों की अनदेखी हुई। 1941 में 'अटलांटिक चार्टर द्वारा सभी देशों के नागरिकों के समान अधिकारों की बात कही गई। 1945 के सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भी मानवाधिकारों की रक्षा की बात उठाई गई। इन सब प्रयासों के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति स्थापना एवं मानवाधिकारों की रक्षा के लिए 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का उद्भव हुआ। 1946 में संयुक्त राष्ट्र संघ की धारा 68 के अन्तर्गत 'आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् निकाय ने श्रीमती एलोनोर रूजवेल्ट की अध्यक्षता में मानव अधिकारों के प्रारूप की रचना के लिए मानवाधिकार आयोग गठित किया गया, जिसने जून 1948 में मानवाधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा तैयार की, जिसे संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 10 दिसम्बर, 1948 के प्रस्ताव क्रमांक 217 (अ) 115 द्वारा स्वीकार किया 'मानव अधिकार दिवस' के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

"मानवाधिकारियों ने प्रारम्भ में आदिवासियों के अधिकारों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। इसी कारण मानवाधिकार की संयुक्त राष्ट्र की घोषणा में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता

लेकिन बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कथित विकास की प्रक्रिया में आदिवासियों के हितों पर किए गए कुठाराघातों ने ही मानवाधिकारवादियों को इस दिशा में सचेष्ट किया।"

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने दिसम्बर 1986 में विकास का घोषणा–पत्र स्वीकार करते हुए उसे ऐसा अधिकार माना, जिससे किसी भी व्यक्ति या समूह को वंचित नहीं किया जा सकता। उसी घोषणा पत्र के अनुच्छेद दो में कहा गया है कि विकास का केन्द्रीय विषय मानव है, वह विकास की प्रक्रिया का सक्रिय सहभागी और उसके लाभों का भोक्ता होना चाहिए। यही बात विशिष्ट समूहों पर लागू होती है। मानवाधिकार कहता है कि मानव की भावी पीढ़ियों के हित को विकास की प्रक्रिया में समाहित किए बिना आदिवासी समूहों के अधिकारों का अतिक्रमण होता है, तो इसे उनके साथ अन्याय समझा जाना चाहिए। इसी अवधारणा को इन्टरजेनरेशनल– जस्टिस अर्थात् सनातन न्याय कहा जाता है।

एक लोकतांत्रिक राज्य का कार्य मानव को प्रकृति से प्राप्त अधिकारों के समुचित प्रयोग द्वारा उसके सर्वांगीण विकास के लिए अग्रसर करने के अवसर प्रदान करना है। कुछ वर्ष पहले विश्व स्तर पर इंडिजीनस ईयर मनाया गया। भारत सरकार संयुक्त राष्ट्र संघ को सीधे लिख दिया कि "भारत में इंडीजीनस लोग न होने के कारण ऐसा कोई वर्ष नहीं मनाया जाएगा, और न ही वहाँ कोई प्रतिनिधिमण्डल जाएगा।" लेकिन ऐसे आंतरिक उपनिवेश और वर्चस्ववाद के कारण आदिवासी समूह विकास के नाम पर विस्थापित होकर अपने मानवाधिकारों को प्राप्त करने में असफल रहे।

सरकार ने 1998 में कई प्रकार के बिल पेश कर भूमि अधिग्रहण संशोधन द्वारा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को मनमानी जमीन प्राप्त करने के अवसर प्रदान किए। "भूमि अधिग्रहण व छोटा नागुपर टेनेंसी एक्ट जैसे कानूनों के तहत आदिवासी की जमीन लेने पर रोक लगी हुई थी। इसके प्रावधानों से मुक्ति पाने के लिए सरकार ने इस पर मनमाने संशोधन किए। सरकार की इस नीति के कारण 1991 और 1995 की अवधि के बीच केवल झारखण्ड में पचास एकड़ भूमि पर पन्द्रह लाख लोग विस्थापित हुए, जिसमें 41.27 प्रतिशत आदिवासी हैं।" इसके अतिरिक्त रक्षा परियोजनाओं में 89.7 प्रतिशत और जल संसाधन परियोजनाओं में 75.2 प्रतिशत आदिवासी विस्थापित हुए।

सरकार की वित्ताधारित विकास की नीतियों ने 'कोल बियरिंग एरिया एक्ट–1957' द्वारा आदिवासियों की हजारों एकड़ जमीन को खदानों, रेल की पटरियों और ईंट भट्ठों में परिवर्तित कर दिया। अन्य समूहों के समान योग्यता और हैसियत उपलब्ध करवाना तो दूर उनकी प्राकृतिक सम्पदा को नष्ट कर उन्हें रोजगार और समान अधिकार की अनुपलब्धता द्वारा मानवाधिकार से वंचित कर दिया। अन्य समूहों के विकास की कीमत पर आदिवासियों का विस्थापन मानवीय विकास और कल्याण की उपेक्षा या दमन को दर्शाता है।

जबकि पर्यावरण और विकास पर केन्द्रित संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में यह तथ्य स्वीकार किया गया कि वैश्विक पर्यावरण की चुनौतियों का सामने करने के लिए आदिवासी समूहों और उनके पारम्परिक ज्ञान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसलिए विकास की किसी भी प्रक्रिया विशेषतया उनके प्रदेशों से सम्बन्धित विकास प्रक्रिया में इन समूहों की सक्रिय भागीदारी को सुनिश्चित किया जाना चाहिए लेकिन पूंजीवाद विकास ने आदिवासियों के पारम्परिक ज्ञान की अनदेखी कर उनके वनों, नदियों, तालाबों, पहाड़ों और वनस्पतियों के प्राकृतिक स्वरूप को विनष्ट कर पारिस्थितिक असंतुलन की स्थितियाँ पैदा कर दी हैं। आदिवासियों को सभ्य बनाने के लिए चलाई जाने वाली सरकारी तथा गैर सरकारी योजनाएँ उन्हें उनके टापुओं से खदेड़कर मानवाधिकार से वंचित करती है। आदिवासी कविता जब इक्कीसवीं सदी में पृथ्वी की असीमित धड़धड़ाहट से आदिवासियों के आदिम कवच को असुरिक्षत देखती है तो पूंजी एवं बाजार के प्रति विद्रोही तेवर दिखाकर उन्हें मानवाधिकारों के प्रति सचेत करती हैं, "कि देखो तुम्होरे पेड़ गिर रहे हैं/समुद्र मैला हो रहा है/तटों पर प्लास्टिक की थैलियाँ बिखर रही हैं/मछलियाँ दूर चली गई है/ऑक्टोपस छुप गए हैं/शैल टूट गए हैं और तुम चुप हो।" यह कविता सभ्य समाज द्वारा आदिवासियों के प्रकृति प्रदत्त अधिकारों को छीन कर विकास की प्रक्रिया में उनकी भागेदारी को सिरे से खारिज करने की योजनाओं के परिणाम को दर्शाती है।

अनैतिकता से अर्जित ऐसे विकास पर आदिवासी साहित्य विरोध दर्ज करवाकर अपने नैतिक कर्त्तव्य को परिपूर्ण किया है। डी.डी.कोशाम्बी, डी.पी. चट्टोपाध्याय, भगवती शरण उपाध्याय एवं राहुल सांकृत्यायन जैसे साहित्यकारों ने जहाँ अस्तित्व और पहचान के संकट से जूझते आदिवासियों को स्थापित करने का कार्य किया वहीं महाश्वेता देवी रमणिका गुप्ता, परदेशी राम वर्मा, हरिराम मीणा, वाहरु सोनवणे, रूपचंद हांसदा, निर्मला पुतुल मुन्नी सिंह, विपिन विहारी, कैलाशचन्द जैसे साहित्यकारों ने आदिवासी विर्मश को अंजाम तक पहुंचाया है। 'युद्धरत आम आदमी', 'अरावली उद्घोष', 'दस्तक', 'समकालीन जनमत' इत्यादि पत्रिकाओं ने आदिवासी विशेषांकों के माध्यम से आदिवासी जीवन की वेदना, विद्रोह और व्यवस्था के प्रति नकार द्वारा आदिवासियों को उज्ज्वल परम्परा का आधारभूत प्राणी होने का अहसास दिलाया।

आदिवासी समाज के प्रतिनिधि को समाज की मुख्यधारा से दूर हटाकर अपने अनिवार्य, सामाजिक और प्राकृतिक दायित्व की अवहेलना करने वाले शोषकों पर इन आदिवासी साहित्यकारों की कलम के तीव्र प्रहार हुए हैं।

सदियों से प्रस्थापित समाज, धर्म और शास्त्रो द्वारा किए जा रहे आदिवासियों के विरूपीकरण को समाप्त कर उनके मौलिक स्वरूप को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास आदिवासी साहित्य के माध्यम से किया जा रहा है। 'ग्लोबल गांव के देवता' उपन्यास इन्हीं संदर्भों में आदिवासियों की निर्भीक, जुझारू, लोकतांत्रिक और संघर्षशील प्रकृति को उजागर कर मानवाधिकारों का पक्षधर बना है।

इस उपन्यास में चिंता व्यक्त की गई है कि दुनिया के ग्लोबल गाँव में तब्दील हो जाने पर उसकी अस्मिता का संकट न केवल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से है बल्कि ऐसी राष्ट्रीय सरकार से भी है, जिसकी शक्ति वैश्विक है, जिसके नेता लोकतंत्र का दम्भ भरकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आश्रय में बैठे हैं। ग्लोबल गांव के देवता की ताकत के समक्ष उन सभी आदिवासियों तथा नागरिकों को खतरा है जो जमीन और अपने श्रम पर आश्रित हैं। इन देवों की दृष्टि किसानों की भूमि, आदिवासियों के जंगलों और श्रमिकों के सस्ते श्रम पर टिकी है, ये नेताओं और ब्यूरोक्रेटस को मोटी थैलियाँ चढ़ाकर मिल–जुल कर शोषण की प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार 'ग्लोबल गाँव के देवता' की असीम शक्ति के सामने, अपने हक के लिए संघर्षरत आदिवासियों की कम कीमत आंक कर कुछ विशेष लोगों को सशक्त करना प्रकारान्तर से उस विशिष्ट समूह के अधिकारों का हनन है, जिन्हें घुसपैठिए मानकर भेड़ियों का अभ्यारण्य बनाने के लिए सैंतीस गाँव खाली करने का आदेश दिया जाता है। ऐसे अन्याय से रक्षा के लिए संविधान में मौलिक अधिकारों और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की संकल्पना की गई है। यह संकल्पना सर्वहित के नाम पर आदिवासी समूहों पर होने वाले अत्याचारों से बचाने के लिए अत्यावश्यक है।

आदिवासी साहित्य में प्रौद्योगिकी आधारित व्यवस्था में सर्वसत्तावादी होते जा रहे राज्यों और आर्थिक तौर पर एकाधिकारवादी संस्थाओं को आदिवासी नवचेतना के अवरोध के रूप में देखा गया है। यह व्यवस्था आदिवासियों के अस्तित्व, अस्मिता और उनकी सम्पूर्ण सामाजिक– सांस्कृतिक और आर्थिक संरचना में हस्तक्षेप द्वारा समतामूलक समाज की अवधारणा और मानवीय मूल्यों को नष्ट कर रही है। सभ्यता के विस्तार के नाम पर "वीरान घोटुल, उजड़े हाट, उमंगहीन पर्व थके मांदल और सिसकती बांुसरी थामे।" आदिवासी समाज आंतरिक और बाह्य षड्यन्त्रों में उलझकर सत्ता के विकेन्द्रीकृत विकास के साथ धनात्मक सम्बंध बनाने में असफल हो रहे हैं। समाप्त होती प्राकृतिक सत्ताओं, आदिवासी नस्लों, पुश्तैनी दावों, टूटती आस्थाओं तथा संक्रान्तिकालीन दशाओं जैसे विशिष्ट संदर्भों में आदिवासी मानवाधिकारों की प्राप्ति, आदिवासी साहित्य का मुख्य ध्येय रहा है। वैश्वीकरण के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न शोषण के अनेक प्रश्नों से जूझती आदिवासी कविता जब कहती है कि "पंथराई आँखों के सहारे/अपने हरे–भरे आँगन में/जीवन अवलम्ब ढूँढता कोई/कैसे बचे वैश्विक वात्याचक्र से/ दिक्कू और देसी दलालों के षड्यन्त्रों से वैश्विक वात्याचक्र यहाँ पूरे वेग के साथ आदिवासी मानवाधिकारों के संरक्षण एवं संवर्द्धन के उपक्रम को धराशायी करता प्रतीत होता है। इस प्रश्न के उत्तर में वैश्विक वात्याचक्र की विध्वंसकारी प्रकृति आदिवासियों की सुरक्षा, समानता, स्वतन्त्रता और साँस्कृतिक गरिमा में जीने के अधिकार को छीनने वाले खतरनाक राजनैतिक निहितार्थ को संकेतित करती है।

वैश्विक विकास की गति के साथ कदम मिलाने की आकांक्षा में आदिवासी समूहों के भीतर दलालों और बिचौलियों का पनपना यह दर्शाता है कि वैश्विक बहेलिए आदिवासियों को जाल में फंसाने के लिए अत्यन्त सक्रिय हैं। उनकी बाजारवादी प्रकृति, उपभोगपरक मुनाफावादी आधार ग्रहण

कर मानवाधिकार संरक्षण व्यवस्था को बाधित करती है। रणेन्द्र की 'बस वह धूल थी' कहानी की सीमा कजूर और उसका समाज आदिवासियों में ही उत्पन्न दलाल बी.डी.ओ. अनिल लकड़ा की स्वार्थी एवं भ्रष्ट प्रकृति के कारण समाज का शोषण करते हैं। 'ग्लोबल गांव के देवता' उपन्यास की आजीविका हेतु खटती युवतियाँ खदान के मेठ मुंशी, क्लर्क और अफसरों की उपभोग की वस्तु बनकर शोषण की चक्की में पिसती है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण की विकास योजनाओं के फलस्वरूप आदिवासी समाज के भीतर पनपने वाली यह शोषण की नकारात्मक प्रक्रिया आदिवासियों के बुनियादी अधिकारों पर प्रश्न चिह्न लगाती है। इसी प्रकार 'शिलवन्ती' जैसी स्त्रियों को दलाली में उतारना आदिवासी स्त्री को उसके मूल स्वभाव से भटकाकर आदिवासी समाज की जड़ों को खोखला करने का उपक्रम है। बाजारवाद की इस जटिल एवं समाज को विखण्डित करने वाली भूमिका से बेखबर स्त्री का मानवाधिकारों की प्रभावी दृष्टि से चूकना आदिवासी साहित्य में सख्त तेवर क साथ विद्यमान है। आदिवासी कविता प्रश्न पूछती है कि "कैसा बिकाऊ है/तुम्हारी बस्ती का प्रधान/जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में/रख देता है/पूरे गांव को गिरवी/और ले जाता है/लकड़ियों के गट्ठर की तरह/ लादकर अपनी गाड़ियों में/तुम्हारी लड़कियों को/" शिक्षा के अधिकार से वंचित आदिवासी स्त्री की यह दासता ही है, जो उसे निम्न स्तरीय प्रतिनिधित्व के लिए विवश कर उसके समक्ष चुनौतियाँ खड़ी करती हैं। शिलवन्ती जैसी स्त्रियां पैदा करने वाले लोग आदिवासियों की स्थिति को सुधारने के लिए प्रतिबद्ध मानवाधिकार के समक्ष एक बड़ी चुनौती हैं जो, उन्हें मुख्यधारा से जोड़ने की मुहिम का हिस्सा बनाने की आड़ में शोषण का यंत्र बनाते हैं। बाजारवाद की यह प्रकृति दलालों के माध्यम से आदिवासी समूहों के लिए आंतरिक खतरा बनकर समानता और न्याय की प्रक्रिया को बाधित करती है।

इस प्रकार वैश्वीकरण और बहुराष्ट्रीय अर्थसत्ता आदिवासी मानवाधिकारों के पक्षधर प्रतीत नहीं होते। मानवाधिकारों से आशय वंचितों के अधिकारों की सुरक्षा से है। वे वंचितों के सरंक्षक बनकर उन्हें शिक्षा, स्वतन्त्रता, समानता, जीवन–रक्षा, शोषण– विरोध और न्यायगत–समता के जन्मसिद्ध अधिकार से संयुक्त करते हैं, लेकिन अनेकों कानूनों के बावजूद पंजीवाद के सौदागर जाल फैलाकर, योजनाएँ एवं साजिशें बलवती कर आदिवासी की भूमि का अधिकार छीन कर उसे अशक्त बना देते हैं। आदिवासी साहित्य में आदिवासी के भूमि अधिकार हनन को लेकर आवाज उठाई गई है। वह बिना विक्रय किए, अपनी भूमि पर मालिकाना हक खोकर पूंजीवादी शक्तियों का शिकार हो जाता है। वैश्वीकरण यहां परम्परा से बंधे आदिवासी की जमीन को ब्यूटी पार्लर, एस.टी.डी. बूथ, किराना स्टोर, ऑटोपार्ट्स, रेडीमेड गारमेंट, दवाखाने, रेस्टोरेंट, प्रसाधन सामग्रियों से लेकर, ब्लू फिल्मों की सी.डी. एवं डी.वी.डी. स्टोर में परिवर्तित कर आदिवासी की विचारधारा में सेंध लगाकर उनकी चेतना की दशा को परिवर्तित करने में सफल हो जाता है।

'लकड़बग्घे' कहानी में भी सरकार द्वारा राजस्थान के बारां व कोटा जिले और इनसे सटे मध्यप्रदेश के निवासियों के लिए घोषित सरकारी बजट को हड़पकर विकास के नाम पर आदिवासी समूहों के सामाजिक और आर्थिक जीवन को छिन्न–भिन्न करना भी संयुक्त राष्ट्र के विकास के

प्रतिमानों का उल्लंघन है। इस क्षेत्र के आदिवासियों का सारा पैसा कुछ लकड़बग्घों, पुलिस, स्थानीय पत्रकार, पटवारी, बी.डी.ओ., स्थानीय नेताओं आदि द्वारा अपनी जेब में डालना शोषण की पराकाष्ठा है, जो मानवाधिकारों की मूल आत्मा के विरुद्ध है। इस कहानी में आदिवासियों के जीवन स्तर को उन्नत बनाने वाली योजनाओं की अनुपालना हेतु प्रतिबद्ध सरकारी प्रतिनिधियों की विश्वसनीयता का संदेहास्पद होना किसी भी राष्ट्र या समाज की नैतिकता को कटघरे में खड़ा करता है।

निष्कर्षतः आदिवासी साहित्य वंचित आदिवासी समूहों को उपभोक्तावाद और बाजारवाद जैसी विध्वंसक शक्तियों से टकराने का साहस प्रदान कर उनके रक्षार्थ प्रयासरत है। वह अपनी चेतना की प्रतिरोधात्मक शक्ति के बल पर आदिवासियों को न केवल आर्थिक विकास की गति में साझेदार बनाना चाहता है बल्कि उन शोषणवादी शक्तियों से लड़ना भी सिखाता है जो आदिवासियों के लिए निर्मित विशेष योजनाओं और प्रावधानों को मानवाधिकारों की संकल्पना के अनुरूप प्रतिपादित करने में बाधा उपस्थित करती है।

वैश्वीकरण के समय में आधुनिक विकास की गति क साथ आदिवासियों की प्रकृति, संस्कृति और इतिहास को उसकी मौलिकता के साथ जीवित रखने के लिए आदिवासर साहित्य संकल्पबद्ध है। ऐसे समय में सामाजिक मूल्यों एवं सामुदायिक जीवन शैली पर अवलम्बित वर्गरहित, जातिरहित समाज की परिकल्पना को अपनी आत्मा में संजोए मानवाधिकारों को पुष्ट करने वाली विकास प्रक्रिया की ओर अनिवार्य कदम बढ़ाना आदिवासी साहित्य की विशिष्टता है।

संदर्भ

1. मानवाधिकार, संघर्ष, संदर्भ एवं निवारण – कैलाश नाथ गुप्त, डॉ. सरिता शाह, पृ. सं. 14
2. मानवाधिकार की संस्कृति, नंद किशोर आचार्य, पृ. सं. 63–64
3. युद्धरत्त आम आदमी, अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक, पृ.सं. 49
4. युद्धरत्त आम आदमी, अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक, पृ.सं. 17
5. भारतीय नियम इतिहास और आदिवासी, हरिराम मीणा, वक्तव्य
6. आदिवासी कहानियाँ (संपादक केदार प्रसाद मीणा), शहर के दाग का दान, रूपलाल बेदिया, पृ. सं. 116
7. आदिवासी कहानियाँ (संपादक केदार प्रसाद मीणा), बस वह धूल थी, रणेन्द्र, पृ.सं. 68–77
8. समकालीन आदिवासी कविता (संपादन हरिराम मीणा) चुड़का सोरेन, निर्मला पुतुल, पृ. सं. 28
9. आदिवासी कहानियां (संपादक केदार प्रसाद मीणा), लकड़बग्घा, पुन्नी सिंह, पृ.सं. 128
10. मानवाधिकार की संस्कृति, नंद किशोर आचार्य, पृ.सं. 64